ISSN 2395-051X

कबीर का सामाजिक चिन्तन : एक विश्लेषण

राजकुमार

सहायक प्राध्यापक, हिन्दी

शास. स्वशासी कन्या स्नातकोत्तर उत्कृष्टता महाविद्यालय, सागर (म.प्र.)

सारांश -

महात्मा कबीर ने सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक तथा दार्शनिक धरातल पर अपने पूर्वगामी नायकों- बुद्ध, चार्वाक, गोसाल, गोरखनाथ के वैचारिक अवदान को गृहण कर तत्कालीन मध्ययुगीन विद्रूपताओं पर कुठाराघात किया है। सामाजिक और धार्मिक अधिकारों से वंचित दीन-हीन निरक्षर अस्पृश्य, प्रताड़ित समाज को प्रबोधित करने का सराहनीय प्रयास कबीरदास ने किया है। सामाजिक, धार्मिक शासकों द्वारा थोपी गई विविध अयोग्यताओं को स्वीकार करने को मजबूर पीड़ित समाज ने कबीर में एक सच्चे समाज-सुधारक के दर्शन किये हैं। कबीर के सम्यक् एवं दृढ़लोकाचार ने किताबी और मज़हबी मान्यताओं को ढहाया है, जिसे साधारण जनता ने दिलोजान से स्वीकार किया है और निर्गुण पंथ तथा समतामूलक समाज-निर्माण की ओर उन्मुख हुई है। कबीर का उक्त सामाजिक-आर्थिक व्यवहार आज तक मनुष्यों को तार्किक और विवेकी बनाये हुए है। कबीर की सामाजिक क्रान्ति का ही परिणाम है कि वर्तमान में भी सामाजिक-धार्मिक क्रूरताओं तथा शोषण का विरोध करने की ताकत आमजन में व्याप्त है। कबीर के सामाजिक चिंतन में मिथ्या आग्रह नहीं है, दुराग्रह नहीं है; बल्कि सत्याग्रह का आव्हान है। सैकड़ों वर्षों की विविध असमानता ने मध्ययुग को भी आगोश में लिया है, जिसका प्रतिकार कबीर ने अपनी दृढ़ और तार्किक व जनोपयोगी भाषा, रीति और व्यवहार से किया है। वर्तमान समाज कबीर के समाज दर्शन का ऋणी है और अभिभूत है कि वह धर्म-पंथ की स्वतंत्रता मानने के लिए स्वतंत्र है। वह दकियानूसी, निरर्थक व समाज-विरोधी मानसिकता से उबर कर एक सच्चे नागरिक, धर्मनिरपेक्ष नागरिक और जवाबदार नागरिक बनने में महात्मा कबीर के योगदान को स्वीकार करता है।

मुख्य शब्द - वर्ण-व्यवस्था, यज्ञवाद, एकेश्वरवाद, शूद्रसमाज, वैदिक परम्परा, धर्म निरपेक्षता, प्रगतिवाद,

भारत विविधताओं का देश है। अनेकता में एकता यहाँ की प्रमुख विशेषता है। विशाल भारतीय भू-भाग में भिन्न-भिन्न धर्मावलम्वी, मतावलम्वी, पन्थ, सम्प्रदाय, विचार-धारा के नागरिक विगत कालों से निवासरत हैं, जो भिन्न-भिन्न जातियों, वर्गों, वर्णों, लिंगों, संस्कृतियों और भाषाओं में विभाजित हैं, फिर भी एक हैं, और इस एकता का कारण है-पारस्परिक सद्भाव। यदि द्रविड़ सभ्यता को इस देश की आदि-सभ्यता मान लें, तब आर्य, यूनानी, शक, हूण, कुषाण, अरब, मंगोल, तुर्क, मुगल और यूरोपीय जातियों ने अपने बाहु-बल, बुद्धि-बल से भारतीय सभ्यता को राजनैतिक ढंग से विजित कर अपने सांस्कृतिक विचार (भाषा,

धर्म, रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार) समय-समय पर अपनी सामर्थ्यानुसार एवं शक्ति- अनुसार इस देश में लागू किये हैं। परिणामतः भारत एक मिश्रित जातीय-सांस्कृतिक राष्ट्र के रुप में विश्व के समक्ष प्रस्तुत हुआ। यह बहुधर्मी रंगों से रँगा भारत ही वास्तव में भारतवर्ष है, जहाँ सभी की अपनी आजादी सीमाबद्ध रहते हुए बरकरार है।

भारतीय सामाजिक परिवेश उत्तर वैदिक काल से निरंतर वर्ण-व्यवस्था का शिकार रहा है। इस व्यवस्था का नियामक और नियंता सदैव सवर्ण वर्ग रहा है, जिसने इस असंगत सामाजिक व्यवस्था को अपने धार्मिक ग्रंथों के माध्यम से पोषित और पल्लवित किया है। पठन-पाठन, वेदाध्ययन, चिंतन-मनन, धर्म-दर्शन, न्याय और शिक्षा जैसे मूल्यवान उपादानों पर अवर्णों को कभी भी कोई अधिकार नहीं दिये गए हैं। अवर्णों की कोटि में दलित जाति-जन को निम्नतम स्थान पर घोषित कर उसके समस्त अधिकारों का चीरहरण कर लिया गया था। उक्त वर्णाश्रम व्यवस्था का ही परिणाम है कि भारत विविध मत-मतान्तरों, पंथों, सम्प्रदायों, धर्मों, जातियों में विभक्त हुआ। राष्ट्रीयता की भावनाएँ विकृत एवम् विलुप्त हुई। जातिगत, वर्णगत, धर्म-सम्प्रदायगत वैमनस्य व्याप्त हुआ और परिणाम निकला भारत की परतंत्रता और विशाल भारत-भूमि का विभाजन।

चूँकि भारत विविधताओं का देश रहा है इसलिए विखण्डन के रास्ते यहाँ सीधे और सरल तरीके से खुलते रहे हैं। भले ही आर्य मनीषियों का आशय सामाजिक सद्भाव को तहस-नहस करने का न रहा हो, लेकिन उनके विखण्डनवाद ने कालान्तर में सिद्ध कर दिया कि आर्य उत्कृष्ट हैं और अनार्य निकृष्ट; क्योंकि अनार्यों से सभी प्रकार के जीवनोपयोगी अधिकार-शिक्षा, व्यापार, न्याय, सुविधापूर्ण जीवन, आदि बलात् हरण कर लिये गये थे। सामाजिक और आर्थिक अपवंचनाओं से त्रस्त अनार्य जन-समुदाय सामाजिक समरसता और सामाजिक सद्भाव के लिए विवश होने लगा। इस विवशता को समझने और तोड़ने का सर्वप्रथम प्रयास गौतम बुद्ध ने किया। गौतम बुद्ध का उत्थान आर्य संस्कृति को पच न सका, क्योंकि बौद्ध धर्म ने प्रगतिशील वैचारिकी को स्थान दिया, जहाँ मनुष्य-मनुष्य बराबर हैं। आडम्बरों, रूढ़ियों, वर्ण, लिंग, जाति की श्रेष्ठता को वहाँ स्थान नहीं है। लिहाजा आर्य-मनीषियों, पण्डे-पुजारियों, ब्राह्मण धर्म के ठेकेदारों ने अन्यान्य तरीकों से उक्त सामाजिक-धार्मिक क्रान्ति का विरोध किया और परिणाम आया सामाजिक, धार्मिक दुर्भाव (वैमनस्य)। अर्थात् जिस चतुरबुद्धि ने कूट रचनाकर अपने हित संवर्द्धन के लिए वर्ण व्यवस्था का सिद्धान्त दिया था, उसको बौद्ध धर्म-दर्शन के रूप में चुनौतियाँ मिलने लगीं, जिसको स्वीकारने की शक्ति ब्राह्मण धर्म और उसके मनीषियों, बुद्धिजीवियों में बहुत कम थी। अतः बौद्ध-युग सामाजिक सद्भावना हेतु प्रथम सोपान था, जिसे महान् सम्राट अशोक ने चरमोत्कर्ष तक पहुँचाया। लेकिन बुद्ध द्वारा स्थापित और अशोक द्वारा पल्लवित सद्भावना ब्राह्मणधर्म और उसके नियन्ताओं को स्वीकार नहीं थी। फलस्वरुप पुष्यमित्र शुंग के रूप में ब्राह्मण धर्मावलम्बियों को एक योद्धा मिला, जिसने मौर्यवंश का तख्ता पलट कर समतावादी समाज और धर्म-दर्शन को चिरन्तन काल तक बन्धक बनाये रखने के उद्देश्य से आचार्य मनु को नामांकित कर दिया। शुंगकाल से लेकर गुप्तकाल, वर्द्धनकाल, राजपूतकाल आदि किसी भी युग में सामाजिक सौहार्द्र नजर नहीं आया। शस्त्र और

शास्त्र के बल पर आम जन-समुदाय को पंगु बनाकर, उनका बौद्धिक ह्रास कर उन्हें लानत भरी जिन्दगी जीने के लिए मजबूर किया गया, जो किसी भी दशा में सामाजिक सद्भाव नहीं था।

राजपूतकाल (चौहान, चंदेल, परमार, प्रतिहार, गुर्जर पाल चालुक्य, चोल आदि) में सामाजिक वैमनस्य पराकाष्ठा की सीमा पार कर गया। उसका एक प्रमुख कारण (वर्णवाद के अतिरिक्त) था-तुर्क जातियों का भारत में आगमन और धर्म संस्कृति पर आक्रमण। महमूद गजनवी ने भारत में सत्रह बार आक्रमण किया। उसने धन सम्पदा को लूटा, कंचन-कामनी को लूटा और सोमनाथ जैसे विख्यात धार्मिक केन्द्र को भी तहस-नहस कर दिया क्योंकि वर्ण आधारित सेनाओं को लकवा मार गया था। ब्राह्मण धर्म के नियन्ता, नियामक, संरक्षक जंगली गुफाओं में जा छिपे थे। ब्राह्मण धर्म पर पहली बार इतनी जबरदस्त चोट हुई थी। आक्रमण का दौर समाप्त होने पर, बन्द गुफाओं के दरवाजे राजभवनों और मठ-मन्दिरों की तरफ खुलने लगे। तत्कालीन पुरोहित और शासक वर्ग परदेशी आक्रान्ताओं पर शिकंजा न कस सका, परन्तु उसने भारतीय समाज के निम्न वर्ग, निम्न जाति-वर्ग, स्त्री वर्ग पर कठोर नियंत्रण अवश्य लाद दिए। आखिरकार खिसयानी बिल्ली खम्भा ही नोच सकती है। सामाजिक विचारधाराएँ रूढ़िगत एवम् आडम्बर युक्त हो चलीं थी। भोगवाद, कलावाद, पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, बहु-विवाह, सतीप्रथा, यज्ञवाद, जातिवाद (वर्णवाद) शिखर को स्पर्श करने लगे थे। सीमाओं की सुरक्षा का मुद्दा रियासतदारों जमींदारों, शासकों पण्डा-पुजारियों, राजपुरोहितों को विस्मृत हो गया था। वे अपने ही व्यर्थ के सामाजिक-धार्मिक मकड़जाल में लघु कीट-पतंगों को फंसाने में व्यस्त रहे। उन्होंने शेर के पंजे कभी विकसित नहीं किये। परिणामतः मोहम्मद गौरी के रूप में सुल्तानी बादशाहत का आगाज हो गया। इस बादशाहत का सिलसिला मुगल शासक औरंगजेब तक बदस्तूर जारी रहा। यह काल सांस्कृतिक संक्रमण का था। मुस्लिम संस्कृति और समाज ने भारतीय सभ्यता, संस्कृति और समाज को शस्त्र और शास्त्र दोनों से प्रभावित किया। ब्राह्मण धर्म की जमीन खिसकने लगी। उसने अपना रूप बदला। ब्राह्मण धर्म को सनातन धर्म या हिन्दू धर्म कहा जाने लगा। जिस तरह से अनार्यों को ब्राह्मण धर्म का हिस्सा नहीं माना गया, ठीक उसी तरह से मुस्लिम धर्म-संस्कृति को हिन्दू धर्म-संस्कृति का विरोधी घोषित किया गया और परिणाम मिला सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक वैमनस्य।

हिन्दी साहित्येतिहास के पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल) में महात्मा कबीरदास जी का आविर्भाव हुआ है, जिन्होंने तद्युगीन सामाजिक, धार्मिक व्यवस्था के दंश को भोगा है। स्वाभाविक है जिस तिरस्कृत समाज में व्यक्ति के अपने कोई अधिकार न हों, भला उसे धर्म-संस्कृति, पूजा-उपासना, मंदिर-मस्जिद से क्या प्रयोजन हो सकता है ? इतिहास के इस मध्यकाल में बिना शास्त्र और शस्त्रसंबल के अपनी बात को, अपने तार्किक विचारों को कबीरदास जी ने उस उपेक्षित वर्ग तक पहुँचाया है जो चिरंतन विचारों और अधिकारों से वंचित रहा है। कबीरदास का युग हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक विचारों, रीति-रिवाजों, धार्मिक, सामाजिक और दार्शनिक मान्यताओं तथा पारस्परिक आचार-विचार के टकराव और संघर्ष का काल था। इस संबंध में डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का विचार है कि ''बाह्याचार की निरर्थक पूजा और संस्कारों की विचारहीन गुलामी

कबीर को पसंद नहीं थी। जातिगत, कुलगत, आचारगत श्रेष्ठता का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं था।''[1]

अपने जीवनकाल में कबीर ने उन सामाजिक और धार्मिक विचारों, मान्यताओं, रूढ़ियों का विरोध किया है, जो मानव मात्र के लिए अहितकर थी। अनेकानेक सड़ी-गली मर्यादाओं को तार-तार कर उन नवीन विचारों और मर्यादाओं की स्थापना की, जो प्रगतिशीलता की राह में आज भी प्रासंगिक हैं। कबीर ने वेद-पाठ, मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, मंदिर-मस्जिद, आडम्बर, ढकोसला आदि का अपनी प्रखर वाणी से इतनी तर्कशीलता से खण्डन किया कि तत्कालीन दलित समाज पोंगापंथ से मुक्त होकर उस व्यवस्था की ओर अग्रसर हुआ जहाँ जातिबंधन, वर्णबंधन और धर्मबंधन की बाध्यता न थी। ईश्वर के उस रूप में आस्था व्यक्त की जो अनिर्वचनीय, निर्गुण, निराकार है, जिसकी उपासना के लिए सद्कर्म, सद्विचार और सद्व्यवहार की आवश्यकता है; तिलक, चोटी, पोथी और मिथ्याडम्बर के लिए स्थान नहीं है। तभी तो हजारी प्रसाद द्विवेदी को लिखना पड़ा है कि 'कबीरदास एक जबरदस्त क्रांतिकारी पुरूष थे।[2]

कबीर ने ''नहीं कोई ऊँचा नहीं कोई नीचा''[3] कह कर सामाजिक असमानता को रेखांकित कर ब्राह्मण वर्ग की जन्म-सिद्धता ''जो बाभन बभनी जाया। आन बाट हवै क्यों नहिं आया।''[4] पर करारी चोट की है। ब्राह्मण जात्याभियान को तोड़ते हुए उन्होंने ''एक बूंद एकै मल मूतर, एक, चाम एक गूदा। एक जोति थे सब उतपनाँ को बामन को सूदा।''[5] कहकर वास्तविकता का बयान किया है। मध्यकाल में ब्राह्मण धर्म (हिन्दू धर्म) और मुस्लिम धर्म का पारस्परिक टकराव हो रहा था। ब्राह्मण धर्म शूद्रों (दलितों) को अपने से पृथक् नहीं होने देना चाहता था। मुस्लिम धर्म जाति विहीन, अस्पृश्यताहीन, सम समाज और एकेश्वरवाद का झाँसा देकर दलितों को अपने में आत्मसात् करना चाहता था। लेकिन महात्मा कबीर ने इन दोनों की स्वार्थपरिता से अवर्ण समाज को उबारा है। ''पंडित माते पढ़ि पुरान, जोगी माते धरि ध्यान''[6] और ''भूले भरम परै जिनि कोई, हिन्दू तुरक झूठ कुल दोई'' का उद्घोष कर ''तू बाम्हन मैं काशी का जुलाहा, बूझहु मोर ज्ञाना।''[7] की चुनौती देते हुए कबीर ने सवर्ण समाज को तर्क संगत शास्त्रार्थ के लिए ललकारा है। लेकिन किसी पंडा-पुरोहित, मुल्ला-मौलवी, पीर-पैगम्बर, योगी-यती, की हिम्मत न हो सकी कि वे तर्क की उष्ण भट्टी में अपना सारहीन, तर्कहीन, कचरा झोंक सकें; अन्यथा उनकी दुकानें कभी की नष्ट हो चुकी होतीं, समरस समाज निर्मित हो चुका होता; परन्तु स्वार्थ-लिप्सुओं को यह सब पसंद न था।

कबीर का सामाजिक दर्शन वैचारिक स्वतंत्रता का पक्षधर है। उनके विचारों में प्रगतिशीलता है, जिसकी दरकार तत्कालीन दलित समाज को भी थी; जिससे वह अपने आपको अनेकानेक मत-मतांतरों, तर्क-हीन विचारों, आडम्बरपूर्ण कर्मकाण्डों से मुक्त रख सके। कबीर से पहले बौद्ध धर्म ने और नाथ पंथ ने दलित समाज (शूद्र) के लिए धर्म, उपासना के द्वार खोल दिये थे, फिर भी दलित समाज अधिक तार्किक न हो सका। कबीर ने दलितों के लिए बंद मानसिक गुलामी के द्वार को खोलने का भरपूर प्रयास किया है। रामचंद्र शुक्ल के अनुसार- ''संत कवियों की सबसे बड़ी देन पिछड़ी जनता में आत्म-गौरव का भाव जगाना भर था। कारण जाहे जो हों, इतना तय है कि निम्न जातियों से आये संतों की वाणी में वैदिक-पौराणिक परम्परा का निषेध है।''[8]

ISSN 2395-051X

कबीर सामाजिक और धार्मिक क्रांति (परिवर्तन) के आह्वानकर्ता थे। उन्होंने अपने साहित्य में तत्कालीन निम्न जातियों के उत्पीड़न और शोषण का मुद्दा उठाया। वे ऐसे मानवतावादी कवि थे, जो समाज के उपेक्षित, पद-दलित समूह में आत्मसम्मान की भावना उत्पन्न कर सके। साथ ही उन्हें अन्याय के विरुद्ध, प्रतिक्रियात्मक बनाने में सक्षम किया। ''भारतीय साहित्य में कबीर का साहित्य जोखिम का साहित्य है। सारा हिन्दू धर्म उनकी दृष्टि में एक बाह्याचार ढकोसला मात्र था।''[9] यदि निरपेक्षता के साथ देखा जाए तो दलित समाज का कोई विशेष धर्म नहीं रहा है। वह बौद्धों के प्रभाव में बौद्ध, मुस्लिमों के प्रभाव में मुस्लिम बनता गया। ब्राह्मण धर्म (हिन्दू धर्म) ने इन्हें कभी नहीं अपनाया। परिणामतः किसी विशेष धर्म के प्रति रुचि इनमें नहीं रही। मध्यकाल में मुस्लिम धर्म और संस्कृति के प्रभाव से भयभीत होकर ब्राह्मण धर्म ने शूद्रों को अपना तो माना लेकिन किसी भी प्रकार के सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक अधिकार हस्तांतरित नहीं किये। भूखे व्यक्ति की क्षुधापूर्ति भोजन-दर्शन से नहीं होती। दलित वर्ग के लिए यह सौभाग्य रहा कि महात्मा कबीर निर्धन, दलित (मुस्लिम) परिवार में पालित-पोषित होकर, कुण्ठाओं, जिज्ञासाओं और अशिक्षा के परिवेश से परिचित होकर समाज को उक्त वंचनाओं से विमुक्त कराने का उत्कृष्ट प्रयास किया है। खासकर सवर्ण हिन्दू समाज में निम्न वर्गों के प्रति जाति-पाँति, अस्पृश्यता तथा घृणा के भाव गहरे तक बैठ चुके थे जिनका पुरजोर खण्डन कबीर ने किया है। कबीर ने वर्ण व्यवस्था का बहिष्कार कर, ब्राह्मणों की श्रेष्ठता और जाति आधारित व्यवस्था का जोरदार खण्डन किया। ''कबीर ने सामाजिक व्यवस्था को विकृत करने वाली रूढ़ियों, पाखण्ड, रीति-रिवाजों और मिथ्याचार के विरुद्ध जनता में विद्रोह की भावना उत्पन्न कर दी।''[10] चूँकि दलित वर्गों को मंदिर प्रवेश वर्जित था, लिहाजा कबीर ने मंदिर-मस्जिद की अनिवार्यता ही समाप्त कर दी। माला, तिलक, व्रत, तमाम तरह के छद्माडम्बर जो मनुष्य की तार्किकता में बाधक हैं; को कबीर ने सिरे से खारिज कर दिया। कबीर के उक्त परिवर्तनकारी विचार दलित समाज के लिए प्रेरणा स्रोत सिद्ध हुए। उनकी कथनी और करनी में भेद न था। दलित समाज ने कबीर के प्रभाव को स्वीकार कर निर्गुण ब्रह्म को अपना लिया और मंदिर-मस्जिद, पूजा स्थलों, व्रत-उपवास से किनारा कर लिया। जहाँ कर्मकाण्ड, मिथ्याचार को कोई स्थान नहीं है। उसने वेदों की अपौरुषेयता को नकार दिया और ब्राह्मण वर्ण की चातुर्वर्ण्य कूटनीति पर पलीता लगा दिया। आज भारतवर्ष में उसी कबीरवाद का प्रभाव है कि भारत की दलित जातियाँ अपने सामाजिक, आर्थिक अधिकारों के प्रति लामबन्द हो रही हैं और उन्हें सफलता भी मिल रही है। कबीरदास जी का उक्त अवदान भारतीय दलित वर्ग के लिए प्रेरणा-स्रोत सिद्ध हुआ है।

यह बात बड़े दावे के साथ कही जा सकती है कि यदि सल्तनत काल में कबीर का उद्भव न हुआ होता, तो उत्तर और पश्चिम का दलित वर्ग स्वेच्छा से मुस्लिम धर्म ग्रहण कर चुका होता; क्योंकि ब्राह्मण धर्म ने दलितों के लिए मार्ग अवरुद्ध कर रखा था। उनकी आस्था का कोई ख्याल नहीं रखा गया था; ऊपर से छुआ-छूत, भेदभाव और तिरस्कार के नश्तर भी अहर्निश चुभाये जाते थे। शिक्षा की किरण तो उसने देखी भी न थी। ऐसी विषम परिस्थितियों में दलितों के पास मुस्लिम-शक्ति-संरक्षण के अलावा कोई दूसरा चारा न था।

लेकिन कबीर के सामाजिक, धार्मिक विचारों ने दलितों के अंदर एक नवीन संचेतना का संचार किया जिससे उनके अंदर व्याप्त अंधकार के बादल छँटे, सामाजिक सद्भाव जागृत हुआ, मिथ्या आडम्बरों से मोह भंग हुआ, अपनी बात कहने का साहस पैदा हुआ और निराकार परमेश्वर के प्रति असीम आस्था, और श्रद्धा पनपी। इस्लाम के प्रति भी मोह भंग हुआ। यह सब बातें भले ही अल्प मात्रा में रही हों, पर वंचक समाज के लिए किसी खजाने से कम नहीं थीं। कबीर की वाणियों ने उन सब पीर-पैगम्बरों, कठमुल्लों, तिलकधारियों, धर्म और समाज के ठेकेदारों को अकेले ही ललकारा है जो साधारण जनमानस को अज्ञानता, अंधकार, तिरस्कार, अस्पृश्यता, खोखले विधि-विधानों के काले महासागर में डुबकी लगाने को मजबूर किये थे। ''इन्होंने (कबीर) तत्कालीन उपेक्षित समाज, शोषित, दलित जन-मानस के दुःख को अपने काव्य का आलम्बन बनाया।''[11] कबीर में इतना उत्साह इतना अक्खड़पन अचानक नहीं आया। इसके पीछे चातुर्वर्ण्य व्यवस्था (वर्णाश्रम धर्म) का घृणित स्वरूप था, जिसे कबीर ने स्वयं भोगा है। निरक्षर होते हुए, दाम्पत्य जीवन जीते हुए, पुस्तैनी कार्य को करते हुए सिर्फ वाणी, कर्म और सदाचार की ताकत से कबीर ने इतना महान् कार्य किया है, जिसकी बदौलत आज भारत का दलित वर्ग धर्म, उपासना के क्षेत्र में अपना एक स्वतंत्र मत (निर्गुण पंथ) मानने के लिए स्वतंत्र है, जिसमें न कर्मकाण्ड की बाध्यता है, न पूजा-व्रत की, न तीर्थाटन और मंदिर-मस्जिद की और न ही किसी दार्शनिक सम्प्रदाय से सम्बद्ध होने की।

कबीर की खण्डनात्मक अहिंसक प्रवृत्ति के कारण ही दलितों में एक विशेष प्रकार की आंतरिक चेतना मध्यकाल से आधुनिक काल तक निरंतर प्रवाहित रही है। अपने काव्य के माध्यम से कबीरदास ने एक दलित नेता के रूप में अपने को प्रस्तुत कर सामाजिक उत्थान में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। ''सामाजिक शोषण, अनाचार और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष में आज भी कबीर का काव्य एक तीखा अस्त्र है।''[12] कबीर पंथ के अनुयायी ज्यादातर उनके शिष्य दलित वर्ग के ही रहे हैं। इसलिए कबीर पंथ का प्रचार-प्रसार दलितों में ही अधिक रहा है; क्योंकि उन्होंने निर्भीकता से कबीर पंथ को स्वीकार कर अपने आपको ब्राह्मण और मुस्लिम धर्म की कट्टरता से मुक्त किया है। इस पंथ में लोच और प्रगतिवादिता के आधिक्य के कारण सर्वग्राहिता अधिक है, जिसे दलित वर्ग अधिक स्वीकार करता है। इसमें समानता है, भाईचारा है, ज्ञान है, शिक्षा है, विज्ञान है, सम्मान है, औदार्य है और तर्कशीलता है। जहाँ चिंतन-मनन, भजन-कीर्तन की अपनी प्रणालियाँ हैं, आम जीवन से सम्पृक्तता है, वहीं दलित मुक्ति है और परमेश्वर-भक्ति है; अन्यथा मुँह में राम बगल में छुरी की पोंगापंथी छिपाये ही रहते है।

कबीर निर्गुणपन्थी विचारधारा के प्रगतिवादी कवि थे। निरक्षर होते हुए भी साक्षरों से बहुत आगे थे। गोपेश्वर सिंह का कथन है कि- ''निर्गुणपन्थी सन्तकवियों के लिए धर्म, समाज और साहित्य के दुर्ग-द्वार बन्द रहे हैं। उनके पास धर्म, समाज और साहित्य की वह शिक्षा नहीं है, जिसे शिक्षित जन महत्व देते हैं।''[13] फिर भी इनकी वाणियाँ समाज के लिए दर्पण सिद्ध हुई हैं। कबीरदास की वाणी तो जनवाणी बन चुकी थी। कबीर के समाज-दर्शन ने तत्कालीन युग-धर्मिता को सर्व-सम्मुख प्रस्तुत किया जिसको समाज ने स्वीकारा है और आज

भी समाज स्वीकार रहा है। अर्थात् कबीर कभी भी प्रसंग से परे नहीं हो सकते क्योंकि भारतीय समाज विविधरंगी है। अवांछित सनातन परम्पराएँ सिर उठाती ही रहती हैं। पन्थ, सम्प्रदाय, धर्म के पाखण्ड आये दिन नागरिकों को शर्मसार करते ही रहे हैं, तब भला कबीर समाज के मानस पटल से कैसे ओझल हो सकते हैं। अतः इनकी प्रासंगिकता पर सदैव चर्चाएँ होती रहेंगी। कबीर-काव्य को और उनके विचारों को कम से कम प्रबुद्ध वर्ग ने तो अभी तक पूरी तरह नहीं समझा है। कबीर को तो सबसे, ज्यादा देश की निरक्षर या मात्र साक्षर जनता ने ही अधिक समझा है। सदानन्द साही लिखते हैं कि- ''रामचंद्र शुक्ल हमें बताते हैं कि कबीर की बानी कुछ अनपढ़ लोगों तक ही पहुंचती है। विचार करना चाहिए कि ऐसा क्या है कबीर की कविता में जो अनपढ़ लोगों तक तो पहुँच जाती है अपने आप! अनायास। लेकिन पढ़े-लिखों तक नहीं पहुंच पाती। कबीर की कविता में दोष है या हमारे पढ़ने-लिखने की विधि में। कहीं ऐसा तो नहीं कि पढ़े-लिखे होने के गुमान में हम कविता के बगल से निकल जाते हैं। हमें इस पर विचार करना चाहिए।''[14]

सामाजिक सौमनस्य पर जो कुठाराघात सदियों से होते आये हैं, उन पर कबीर जैसा अक्खड़ स्वभाव वाला निर्भीक वक्ता ही सामाजिक वैमनस्य पर, तत्कालीन भारतीय धर्म और संस्कृति पर निरपेक्ष भाव से, तार्किक ढंग से आक्रमण करते दिखायी पड़ते हैं, इसीलिए कबीर लोकप्रिय हुए। डॉ. अशोक तिवारी के शब्दों में- ''उत्तर भारत की हिन्दी भाषी जनता में तुलसी के उपरान्त यदि किसी अन्य कवि का काव्य लोगों की जुबान पर चढ़ा हुआ है तो वह कबीर ही हैं।'' निश्चित तौर पर कबीर-युग की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ समाज के सौमनस्य वातावरण के प्रतिकूल थीं। मुल्ला-मौलवी कठमुल्लापन के शिकार थे, तो पण्डा-पुजारी मिथ्या प्रदर्शन में लीन थे। 'दिन भर रोजा रहत हैं, रात हनत हैं गाय।' से हिन्दू दुःखी थे तो 'पाहन पूजे हरि मिलैं, तो मैं पूजूँ पहार' से मुसलमान दुःखी थे, क्योंकि दोनों के चक्षु-कपाट बन्द थे। अपने-अपने पन्थ या धर्म के विचार को श्रेष्ठ साबित करने में दोनों ने सम्प्रदायवाद की कठोरता को सिद्ध किया। कबीर ने दोनों को ललकारा-

''देव पूज हिन्दू मुये, तुरक मुये हज जाई।
जटा बाँधा योगी मुये, राम किनहुँ नहिं पाई।।''

कवीर ने भारतीय समाज को नजदीक से देखा था। डॉ. द्वारका प्रसाद के। शब्दों में ''उस समय हिन्दुओं में विभिन्न सम्प्रदाय एवं अनेक मत-मतान्तर प्रचलित थे। कोई शैव मत का अनुयायी था तो कोई शाक्त मत का, कोई जंगम-जती था तो कोई उदासी, कोई नाथ पन्थी था तो कोई तान्त्रिक, कोई जैनी था तो कोई बौद्ध, और कोई वैष्णव था तो कोई निरगुनिया। परन्तु सभी दुराचारों में लीन थे, मांसाहारी थे, मदिरापान करते थे, व्यभिचारी थे, अनाचारी थे और अपनी-अपनी धुन में मस्त रहकर दूसरों को दोषी बताया करते थे।''[15] कबीर ने तद्युगीन समाज की उक्त विशेषताओं का पुरजोर विरोध किया। धर्म, सम्प्रदाय के नाम पर बँटे समाज की दूरियाँ कम करने का प्रयास किया, लेकिन अज्ञानता, अतार्किकता और रूढ़िवादिता की चादर ओढ़ने वाले समाज को कबीरवाणी नागवार लगती थी। आज भी कबीर की आवश्यकता है, क्योंकि अभी भी

ISSN 2395-051X

उन्मादी, धर्मान्ध, आडम्बरप्रिय समाज कबीर की प्रगतिशीलता को, धर्म-निरपेक्षता को स्वीकार न कर सनातन धर्मी व्यवस्था, मुस्लिम धार्मिक कट्टरता को गले लगाये है और चाहता है कि लोकतान्त्रिक सरकारें धर्म-सापेक्षता को स्वीकार करें, जो किसी भी दृष्टि से तर्क संगत नहीं है। सर्व-धर्म-समन्वय का पहला पाठ समाज को कबीर ने ही पढ़ाया है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी लिख चुके हैं कि- ''सर्व-धर्म समन्वय के लिए जिस मजबूत आधार की जरूरत होती है। वह वस्तु कबीर के पदों में सर्वत्र पायी जाती है।''[16] यही सर्व-धर्म-समन्वय ही धर्म-निरपेक्षता है, जिसकी आवश्यकता भारत को सदैव रहती है। क्योंकि इसी इक्कीसवीं सदी के तथाकथित प्रगतिशील समाज में ग्राहम स्टेन्स, कलबुर्गी, पनसारे की हत्या हो जाती है, दादरी जैसा भयानक हादसा हो जाता है। भागलपुर दंगे, सिक्ख दंगे, गोधरा काण्ड, अयोध्या काण्ड, धार्मिक उन्माद, असहिष्णुता आदि घटनाएँ धर्म-सापेक्षता के ही परिणाम हैं। परन्तु प्रशंसनीय बात यह है कि भारतीय जनमानस और प्रगतिशील बौद्धिक समाज और धर्म के ठेकेदारों से पृथक् रहना अधिक पसंद करता है। क्योंकि ''जो लोग हिन्दू-मुस्लिम एकता के व्रत में दीक्षित हैं वे भी कबीर को अपना मार्गदर्शक मानते हैं। यह उचित भी है।''[17] हजारीप्रसाद द्विवेदी का उक्त कथन आज भी समाज में प्रासंगिक बना हुआ है।

समसामयिक सन्दर्भो में कबीर की प्रासंगिकता दलित, आदिवासी, शूद्र- समाज के लिहाज से अधिक हैं; क्योंकि यही वह समुदाय है, जिसे सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक अधिकारों से वंचित रखा गया है। इस समाज ने कबीर के रूप में अपना प्रथम मार्गदर्शक खोज लिया है। डॉ. श्यामसुन्दर के शब्दों में- ''मुसलमानों के आगमन से हिन्दू समाज पर एक और प्रभाव पड़ा। पद-दलित शूद्रों की दृष्टि में उन्मेष हो गया। उन्होंने देखा कि मुसलमानों में शूद्रों और द्विजों का भेद नहीं है। अतएव इन ठुकराये हुए शूद्रों में से ही कुछ ऐसे महात्मा निकले जिन्होंने मनुष्यों की एकता को उद्घोषित करना चाहा।''[18] कर्मकाण्ड, जाति-पाँति, ऊँच-नीच, पण्डा-पुजारियों, मुल्ला-मौलवियों, मन्दिर-मस्जिद, गीता-कुरान, तन्त्र-मन्त्र, नरक-स्वर्ग, हिन्दू-मुस्लिम, जन्म-मरण, ब्राह्मण-शूद्र आदि अनेकानेक तर्कहीन, आडम्बर युक्त प्रपंचों से अलग रहकर सादा एवं सच्चा जीवन जीने से कोई अपराधी नहीं हो जाता है। उक्त प्रवृत्तियों की व्याख्या निडरता के साथ कबीर ने की है। लेकिन वर्तमान समाज इतना निर्दय और पाखण्डवाद की ओर अग्रसर हो रहा है कि दाभोलकर, पानसारे, कलबुर्गी जैसे समाज सेवियों, आडम्बर के विरोधियों, धर्म-निरपेक्षतों को धर्म के नाम पर, सम्प्रदाय के नाम पर मौत के घाट उतार दिया जाता है। उक्त घटनाएं उज्ज्वल लोकतन्त्र के लिए कलंक हैं। इतना बर्बर और निर्दय समाज और शासन-सत्ता तो उस समय भी नहीं थी, जब कबीर निडरता के साथ विश्वास के साथ, निर्भीकता के साथ तद्युगीन पाखण्डियों, धर्म के झण्डाबरदारों को ललकारते थे। अंततः उन्होंने 120 वर्ष की आयु पूर्ण की। डॉ. श्यामसुन्दर दास पुनः लिखते है कि- ''मुसलमानों के रोजा, नमाज, हज, ताजिएदारी और हिन्दुओं के श्रद्धा, एकादशी, तीर्थ, व्रत, मंदिर सबका उन्होंने (कबीर) विरोध किया है। कर्म-काण्ड की उन्होंने भरपेट निन्दा की है। इस बाहरी पाखण्ड के लिए उन्होंने हिन्दू-मुसमालन दोनों को खूब फटकारें सुनायी हैं। धर्म को आडम्बर से परे एकमात्र सत्य सत्ता मानते थे, हिन्दू मुसलमान आदि विभाग नहीं हो सकते।''[19] इसलिए कबीर

और अन्य संत कवियों के विचार तद्युगीन परिस्थितियों में इतने प्रासंगिक थे कि शासक वर्ग उन्हें ससम्मान राजभवन आमन्त्रित करता था और लोग उनके दर्शनार्थ प्रस्तुत होते थे। लिहाजा कबीर अपने युग से आज तक प्रासंगिक बने हुए हैं। ''कबीर और नानक जैसे सन्तों ने ही नहीं उनके अनुयायियों ने भी अपने-अपने समय की जनता को प्रभावित किया। सन्तों के व्यक्तित्व का प्रभाव हिन्दू तथा मुसलमानों पर समान रूप से पड़ा और उन्होंने अपनी 'बानियों' से आने वाली पीढ़ियों को अजस्र प्रेरणा प्रदान की।''[20]

उत्तर भारत के सामाजिक परिदृश्य में महात्मा कबीर ऐसे जाज्वल्यमान सितारे रहे हैं जिन्होंने मध्यकाल से आज तक समाज के निचले पायदान पर सायास पहुँचाये गए दलित समाज को काव्य-वाणी रूपी प्रकाशपुंज दिया है जिसके आलोक में वह अपने आपको निहार सका है। राजनाथ शर्मा ने लिखा है- 'हिन्दी साहित्य और हिन्दू समाज में कबीर नवीन जागरण युग के अग्रदूत माने जाते हैं। आज कबीर जनता के हृदय में व्यक्ति के रूप में नहीं प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित है।' कबीर के पश्चात् परवर्ती युग में कबीर की इस समदर्शी क्रांतिकारी विचारधारा का प्रबल प्रभाव बीसवीं सदी में दलित समाज के नायक डॉ. अम्बेडकर पर भी पड़ा जिन्होंने कबीर-प्रेरित दलितचेतना को साकार कर भारतीय संविधान के माध्यम से दलित समाज को हमेशा के लिए उच्च वर्गीय मानसिकता की लौहशृंखलाओं से मुक्ति प्रदान की। अतः महात्मा कबीर निश्चित रूप से दलित समाज के प्रेरणा-स्रोत और दलित चेतना के अग्रदूत थे।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि जब तक भारतीय समाज में पूर्ण लोच नहीं आ जाती, दकियानूसी विचारों का अन्त नहीं हो जाता, जाति, वर्ण, लिंग का भेद समाप्त नहीं हो जाता, धार्मिक कट्टरता की धारें भोथरी नहीं हो जातीं, प्रगतिशीलता की राहें चौड़ी नहीं हो जाती, धर्म और जन्म आधारित विभेद काल-कवलित नहीं हो जाते, मनुष्य को मनुष्य नहीं समझा जायेगा, मुखौटे और दोहरे चरित्र का नाश नहीं होगा, धार्मिक ठेकेदारी और पहरेदारी बन्द नहीं होगी, अभिव्यक्ति की आजादी को दबाया जाता रहेगा, धार्मिक ग्रन्थों के कुत्सित विचारों का पालन होता रहेगा, असहिष्णुता के आक्रमण होते रहेंगे; कम से कम तब तक तो कबीर और उनके अवदान को भुलाया नहीं जा सकता है। कबीर-साहित्य में उक्त समस्त निषेधों का खण्डन और विरोध किया गया है। वर्तमान समय विज्ञान, तकनीक और वैश्वीकरण का है, जहाँ पर उपर्युक्त अनर्थकारी बिन्दुओं को रत्ती भर भी स्थान एवं स्वीकृति नहीं हैं। वैश्विक समाज मंगल ग्रह पर मंगलसमाज बनाना चाहता है। हमारा सबका भी यही दायित्व है कि कुप्रथाओं, कुरीतियों, कुरुढ़ियों, कुविचारों को त्यागकर ऐसे आदर्श विचारों को जन-सामान्य, बुद्धि-जीवियों, छात्र-शिक्षकों, स्त्री-पुरुषों, निर्धन-धनी, आस्तिक- नास्तिक, राज-समाज में बाँटें, जो एक आदर्शराज्य, आदर्शसमाज को रच सकें, जिसे आसानी से मंगलराज कह सकें; पर वह तुलसी के रामराज्य से भिन्न हो। अतः सम-सामयिक सन्दर्भों में कह सकते हैं कि अपने जीवनकाल में कबीर ने उन सामाजिक और धार्मिक विचारों, मान्यताओं, रूढ़ियों का विरोध किया है जो मानव-मात्र के लिए अहितकर थीं। उन्होंने अनेकानेक सड़ी-गली मर्यादाओं को तार-तार कर उन नवीन विचारों और मर्यादाओं की स्थापनाएँ की थीं, जो प्रगतिशीलता की राह में आज भी प्रासंगिक हैं।

सन्दर्भ -

1. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, कबीर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990, पृ.172
2. वही, पृ.174
3. दास, डॉ. श्यामसुंदर (संपा.), कबीर ग्रंथावली, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2010, पृ.145
4. वही, पृ.284
5. वही, पृ.148
6. वही, पृ.229
7. वही, पृ.324
8. आलोचना (त्रैमासिक पत्रिका), अंक- अक्टूबर-दिसम्बर 2003, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.35
9. वर्तमान साहित्य (मासिका पत्रिका) अंक अप्रैल 2014, अलीगढ़ उ.प्र., पृ.28
10. आचार्य, सुरेश (संपा.), कबीर : हंसा कहौ पुरातन बात, अमन प्रकाशन, सागर म.प्र., 2002, पृ.12
11. वही, पृ.14
12. वही, पृ.18
13. आलोचना (पत्रिका), संपादक-नामवर ऋसह, सहस्राब्दी, अंक-15, अक्टूबर-नवम्बर, 2003, पृ.38
14. समसामयिक सरस्वती (पत्रिका), सम्पादक-महेश भारद्वाज, अंक जुलाई-सितम्बर 2015, पृ.53
15. तिवारी, डॉ. अशोक, हिन्दी, प्रकाशक-साहित्य भवन, आगरा (उ.प्र.), पृ. 592
16. सक्सेना, डॉ. द्वारका प्रसाद, हिन्दी के प्राचीन प्रतिनिधि कवि, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, पृ.107
17. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, कबीर, राजकमल प्रकाशन, प्रा.लि. नई दिल्ली, 1999, पृ.171
18. वही, पृ.172
19. दास, डॉ. श्यामसुंदर (संपा.), कबीर ग्रंथावली, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2010, पृ.18
20. वही, पृ.42